

अर्हं का विराट् स्वरूप

—संघ प्रमुख श्री चव्दन मुनि

(संस्कृत-प्राकृत के उद्भट विद्वान, कवि
एवं अध्यात्मयोगी साधक)

अर्हमित्यक्षरं ब्रह्म, वाचकं परमेष्ठिनः ।

सिद्धचक्रस्य सद्बीजं, सर्वतः प्रणिदधमहे ॥

—ऋषिमण्डलस्तोत्र ३

अर्हं बड़ा चामत्कारिक मन्त्र है। उसे अक्षर-ब्रह्म कहा गया है। जो कभी क्षर नहीं होता, क्षययुक्त नहीं होता, मिटता नहीं, उसे अक्षर कहा जाता है—“न क्षरतीति अक्षरम्”। अर्हं परमेष्ठी का वाचक है। परमेष्ठिन् शब्द में अर्हत्, सिद्ध, आचार्य, उपाध्याय और साधु—इन पाँचों का समावेश हो जाता है। इन पाँचों को जैन-दर्शन में परमेश्वर रूप में स्वीकार किया गया है। जैन परम्परा में सिद्धचक्र यन्त्र का बहुत महत्व है। उसकी विधिवत् पूजा, आराधना होती है। “अर्हं” को उसके बीज मन्त्र के रूप में स्वीकार किया गया है। इसीलिए इसे “सिद्धचक्रस्य सद्बीजम्”—विशेषण से विभूषित किया गया है। ऋषि कहते हैं “सर्वतः प्रणिदधमहे”—हम सर्वतोभावेन इसका प्रणिधान यानी जप आदि के द्वारा आराधना करते हैं। यहाँ एक गहरी बात है—क्रिया में उत्तम पुरुष के बहुवचन के वर्तमान का प्रयोग इसलिए किया गया है कि हम निरन्तर सर्वांगीण दृष्टि से इसका ध्यान करते रहे हैं, करते हैं। इसी अर्हं की व्याख्या के लिए एक विशेष गीत की रचना की गई है—

ॐ अर्हं-अर्हं गाएजा ।

अर्हं-अर्हं गा-गाकर इस मन को विमल बनाएजा ॥ ध्रुव ॥

अर्हं-अर्हं रटन लगाते, भव-भव के बन्धन कट जाते ।

अन्दर के और बाहर के क्लेशों को दूर हटाये जा ॥ १ ॥

ॐ अर्हं-अर्हं गाएजा ॥

अर्हं-अर्हं में लयलीन होने से मन निर्मल बनता है। मन को निर्मल बनाना ही साधक का उत्कृष्ट लक्ष्य है। जप वास्तव में अन्तःशुद्धि का कार्य करता है। वचन और काया की शुद्धि अन्यान्य

साधनों के द्वारा भी हो सकती है, किन्तु मन को शुद्ध बनाने के लिए, मन का मैल धोने के लिए जप को ही उत्तम साधन माना गया है। प्राचीन आचार्यों ने बड़ा सुन्दर लिखा है—

अभेददर्शनं ज्ञानं, ध्यानं निर्विषयं मनः ।

स्नानं मनोमलत्यागः, शौचमिन्द्रियनिग्रहः ॥

इस श्लोक के चार चरणों में चार व्याख्याएँ दी गई हैं। ज्ञान की व्युत्पत्तिपरक व्याख्या है—“ज्ञायते परिच्छिद्यते वस्तु येन तद् ज्ञानम्” जिसके द्वारा वस्तु जानी जाती है, अन्य वस्तुओं के साथ उसका पार्थक्य किया जाता है, उसे ज्ञान कहते हैं। लेकिन यहाँ ज्ञान को सूक्ष्म व्याख्या के साथ प्रस्तुत किया गया है। आचार्य कहते हैं—“अभेददर्शनम् ज्ञानम्” ज्ञान वास्तव में वह है, जो अभेददर्शन कराता है। जहाँ स्व-पर का भेद मिट जाता है, तू-मैं का विभाजन समाप्त हो जाता है, वही सच्चा ज्ञान है। जब तक दृष्टि में भेद विद्यमान है, तब तक ज्ञान केवल पुस्तकीय ज्ञान है। वह सम्यक्ज्ञान नहीं है। इसी प्रकार कहा गया—“ध्यानं निर्विषयं मनः” मन का निर्विषय हो जाना ध्यान है। केवल आँखें मूँदकर, आसन लगाकर बैठना ध्यान नहीं है, जब तक मन विषयों से उपरत न हो जाए। यदि मन सर्वथा निर्विषयी है तो चाहे कहीं किसी स्थिति में बैठे हों, ध्यान सधता जाता है।

आचार्य आगे लिखते हैं “स्नानं मनोमलत्यागः” जिसके द्वारा मन के मल का विसर्जन हो, वह स्नान है। ऊपरी मैल को धोना केवल बाह्य स्नान है। किन्तु अन्तःशुद्धि वास्तविक स्नान है। चौथा चरण है—“शौचमिन्द्रियनिग्रहं” इन्द्रियों का निग्रह ही शौच है। यदि आप शुचि-पवित्र रहना चाहते हैं तो इन्द्रिय-संयम करना होगा। इन्द्रियों के असंयम से ही हम अपवित्र बनते हैं। इसीलिए यह उक्ति प्रसिद्ध है—“ब्रह्मचारी सदा शुचिः”। ब्रह्मचारी निरन्तर पवित्र बना रहता है। वह कभी अपवित्र नहीं होता। अतः मनोमल की शुद्धि के लिए जप उत्कृष्ट साधन है।

जप की एक विशेषता और है—“अन्दर के और बाहर के क्लेशों को दूर हटाता है।” दो प्रकार के क्लेश हैं—अन्दर के क्लेश काम, क्रोध, मोह आदि हैं तथा बाहर के क्लेश रोग, शोक, व्याधि, प्रतिकूलता आदि हैं। संसारी जीव इन दोनों प्रकार के क्लेशों से निरन्तर उत्पीड़ित बने रहते हैं। इस अर्ह जप के द्वारा वे सब प्रकार के क्लेशों को दूर हटा सकते हैं। यहाँ एक रहस्य और है। जीभ जप के साधन के रूप में प्रयुक्त होती है। रचना की दृष्टि से उसका कुछ भाग बाहर है और कुछ भाग कण्ठ के भीतर चला गया है। सन्तजन कहते हैं—

रामनाम मणिदीप धरु, जीभ देहरी द्वार ।

तुलसी भीतर बाहिर, जो चाहसि उजियार ॥

जिस प्रकार कमरे की देहली में रखा दीपक अन्दर के कमरे को तथा बाहर के आंगन को समान रूप से प्रकाशित करता है, उसी प्रकार इस जीभ को देहली मानकर इससे प्रभु-नाम का जप करें तो दोनों ओर प्रकाश होगा। अन्तर्-बाह्य दोनों प्रकार के संक्लेशों से छुटकारा होगा। यहाँ “मणिदीप” का प्रयोग भी विशिष्ट अर्थ में हुआ है। तेलालादि से जलने वाले दीप हवा के झोंके से बुझ जाते हैं, तेल समाप्त होने पर बुझ जाते हैं पर जो स्वतः प्रकाशित रत्न होते हैं, उनके बुझने का कोई खतरा नहीं। समग्र उपद्रवों के बावजूद वे प्रकाश देते रहते हैं। यह प्रभु-नाममय मणिदीप हमें अखण्ड प्रकाश देता है। यह अर्ह का जप भी एक प्रकार का मणिदीप ही है। अब हम यह चिन्तन करेंगे कि इस अर्ह शब्द की निष्पत्ति कैसे हुई तथा वस्तुतः यह शक्ति क्या है ?

अर्ह के आदि में अकार का प्रयोग हुआ है और अन्त में “ह” आया है। “र” इन दोनों के मध्य ऊर्ध्वगामी बना है।

अकार अपने आप में बड़ा प्रभावापन्न अक्षर माना गया है। गीता में योगेश्वर कृष्ण ने तो यहाँ तक कह दिया है—

“अक्षराणामकारोऽस्मि”

—गीता १०/३३

हे अर्जुन ! अक्षरों में मैं अकार हूँ।

अर्ह की व्याख्या करते हुए प्राचीन आचार्य कहते हैं—

अकारः प्रथमं तत्त्वं, सर्वभूताभयप्रदम् ।
कण्ठदेशं समाश्रित्य, वर्तते सर्वदेहिनाम् ॥
सर्वात्मकं सर्वगतं, सर्वव्यापि सनातनम् ।
सर्वसत्त्वाश्रितं दिव्यं, वितित-पापनाशनम् ॥
सर्वेषामपि वर्णानां, स्वराणां च धुरिस्थितम् ।
व्यंजनेषु च सर्वेषु, ककारादिषु संस्थितम् ॥

अकार प्रथम तत्त्व है। सब भूतों को अभय प्रदान करने वाला है। यह सभी देहधारियों के कण्ठ-देश को आश्रित कर विद्यमान है। व्याकरणकार भी कहते हैं—“अकुहविसर्गा कण्ठयाः” अकार का उच्चारण स्थान कण्ठ है। यह सर्वात्म, सर्वगत, सर्वव्यापि सनातन तत्त्व माना गया है। यह समस्त सत्त्वों पर, सद्गुणों पर आश्रित, दिव्य, सुचिन्तित तथा पापनाशक है। सभी वर्णों में, स्वरों में यह अग्रसर है—प्रथम स्थान पर है। ‘क्’ आदि सभी व्यंजनों में सर्वप्रथम यही प्राण रूप में वर्तमान रहता है। तन्त्र-मन्त्रादि प्रयोगों में, समग्र विद्याओं में इसका विशिष्ट स्थान है।

अर्ह का मध्याक्षर “र्” अग्नि-बीज है। वैदिक वाङ्मय में उल्लेख है—“रं बीजं बन्धि ध्यायेत्”। “रकार” को अग्नि-तत्त्व का प्रतीक माना गया है। मन्त्र-वेत्ता आचार्य कहते हैं—

दीप्तपावकसंकाशं, सर्वेषां शिरसि स्थितम् ।
विधिना मन्त्रिणा ध्यातं, त्रिवर्गफलदं स्मृतम् ॥
यस्य देवाभिधानस्य, मध्ये ह्येतद् व्यवस्थितम् ।
पुण्यं पवित्रं मांगल्यं, पूज्योऽसौ तत्त्वदर्शिभिः ॥

“र” कार अग्नि के समान दीप्त तथा सब अक्षरों के सिर पर स्थित है। जो विधिवत् इसका ध्यान करता है, त्रिवर्ग—धर्म, अर्थ, काम रूप फल प्राप्त कर लेता है। जिस देवता के नाम में, यह मध्य में स्थित हो जाता है, तत्त्वदर्शियों का कथन है, यह पूजनीय “रकार” तदनु रूप पुण्य, पवित्र, मांगलिक सिद्ध होता है। इसीलिए राम, हरि, हर, वीर, पार्श्व आदि शक्तिसम्पन्न नामों में “र” का अस्तित्व विद्यमान है।

अन्त में प्रयुक्त “ह” वर्ण आकाश तत्त्व का सूचक है। आचार्य कहते हैं—

सर्वेषामपि भूतानां, नित्यं यो हृदि संस्थितः ।
पर्यन्ते सर्ववर्णानां, सकलो निष्कलस्तथा ॥
हकारो हि महाप्राणः, लोकशास्त्रेषु पूजितः ।
विधिना मन्त्रिणा ध्यातः, सर्वकार्यप्रसाधकः ॥

वैयाकरणों की दृष्टि में हकार को महाप्राण के रूप में स्वीकार किया गया है। यह सभी भूतों के हृदय में स्थित है तथा सभी वर्णों में सकल होता हुआ निष्कल रूप में व्यवस्थित है। यदि कोई साधक इसका विधिपूर्वक ध्यान करता है तो यह सर्वसिद्धि प्रदान करने वाला है।

“अर्ह” में वर्णों का अद्भुत संयोजन हुआ है। आदि में अकार और अन्त में हकार का समायोजन अपने आप में अनूठा है। आपने ध्यान दिया होगा, ट्रेन में सबसे आगे इंजन लगा होता है। चालक वहीं से सारी गति नियन्त्रित करता है। किन्तु अन्त में जो गार्ड का डिब्बा लगा होता है, उसका भी गति-नियन्त्रण में महत्वपूर्ण स्थान है। दोनों का दायित्व लगभग समान होता है। यहाँ अन्त में हकार की स्थिति गार्ड-परिरक्षक जैसी है। ह के ऊपर लगा चन्द्र बिन्दु (°) भी अनुपम शक्तिस्त्रोत है। मन्त्राक्षरों में प्रायः चन्द्र-बिन्दु की योजना की जाती है, जो अलौकिक नाद उत्पन्न करता हुआ बीजाक्षरों को शक्ति प्रदान करता है। इसलिए कहा गया है—

त्रीण्यक्षराणि बिन्दुश्च, यस्य देवस्य नाम वै ।

स सर्वज्ञः समाख्यातः, अर्हं तदितिपंडितैः ॥

अर्ह की एक दूसरी व्याख्या और की गई है, जिसके अनुसार इसमें अकार से विष्णु, रकार से ब्रह्मा तथा हकार से हर का समावेश है। लिखा है—

अकारेणोच्यते विष्णुः, रेके ब्रह्माव्यवस्थितः ।

हकारेण हरः प्रोक्तः, तदन्ते परमं पदम् ॥

यह अर्ह शब्द की निर्युक्ति है। वास्तव में यह बहुत प्रभावशाली बीजाक्षर है। कालिकालसर्वज्ञ आचार्य हेमचन्द्र द्वारा रचित “सिद्धहेम शब्दानुशासन” व्याकरण का तो पहला सूत्र ही अर्ह है।

एक अन्य दृष्टिकोण ने भी अर्ह शब्द का संयोजन विशेष महत्वपूर्ण है।

संस्कृत में अर्ह धातु पूजा के अर्थ में है। कहने का आशय है—पूजनीय—पूजायोग्य अर्ह का उपासक नरेन्द्रों, देवेन्द्रों द्वारा पूजनीय बन जाता है। एक दूसरा अर्थ है—अर्ह—योग्य होना—ज्ञान-दर्शन में योग्य बन जाना, सक्षम हो जाना। जैसे ज्ञानार्ह, दर्शनार्ह इत्यादि। अरिहन्त देव अनन्तज्ञान, अनन्त-दर्शन, अनन्तचारित्र तथा अनन्तबल—इन चार अनन्तताओं के योग्य बन गये हैं। सारी सीमाएँ लाँघकर वे असीम/अपार बन गये हैं। साधक का ध्यान जब सर्वथा अन्तर्मुखी बन जाता है तो वह सिद्धि-गमन की अर्हता प्राप्त कर लेता है, तद्योग्य बन जाता है। ध्यान की गहराई में उतरे बिना विशिष्ट योग्यता प्राप्त नहीं हो सकती। अर्ह शब्द अपनी योग्यता उभारने का सूचक है।

○ ○

पीत्वाज्ञानामृतं मुक्त्वा क्रिया-सुरलता फलम् ।

साम्यताम्बूलमास्वाद्य तृप्तिं याति परं मुनिम् ॥

ज्ञानरूपी अमृत का पानकर और क्रियारूपी कल्पवृक्ष के फल खाकर समतारूपी ताम्बूल चखकर साधु परम तृप्ति का अनुभव करता है।

—ज्ञानसार १/७३